उदारवादी युग (1885-1905) – नरमपंथी विचारधारा और नेताओं की भूमिका

कांग्रेस के आरम्भिक 20 वर्षों के काल को "उदारवादी राष्ट्रीयता" की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इस काल में कांग्रेस कीं नीतियाँ अत्यंत उदार थीं. इस युग में भारतीय राजनीति के प्रमुख **नेतृत्वकर्ता दादाभाई नौरोजी, फ़िरोज़शाह मेहता, दिनशा वाचा और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी** आदि जैसे उदारवादी थे. उदारवादियों की राजनीति के कुछ सुस्पष्ट चरण रहे हैं जिसके अंतर्गत इनके आन्दोलन के उद्देश्यों और नियमों में एकरूपता के पुट समाहित रहे हैं. ज्ञातव्य है कि ये ब्रिटिश शासन को विस्थापित करने की अपेक्षा इसमें सुधार लाने में विश्वास रखते थे. उदारवादी नेतृत्व को विश्वास था कि संवैधानिक मार्ग को अपनाकर अपनी बातों को सभाओं, याचिकाओं, प्रार्थना पत्रों आदि के जरिये ब्रिटिश सरकार एवं संसद के सामने रखना अधिक प्रभावकारी सिद्ध होगा.

उदारवादियों को यह विश्वास था कि पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता शनैः शनैः आएगी और अंततोगत्वा भारत को भी अन्य उपनिवेशों की ही तरह स्व-शासन का अधिकार मिलेगा. इसलिए इन उदारवादियों ने क्रमागत संवैधानिक सुधारों, प्रशासनिक सुधारों और राजनीतिक अधिकारों की माँग की. उदारवादियों द्वारा दी गई मांगों का प्रभाव 1892 में पारित भारतीय परिषद् अधिनियम के रूप में परिलक्षित होता है जिसके अंतर्गत केन्द्रीय और प्रांतीय विधायी परिषदों में सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई.

उदारवादी नेतृत्वकर्ताओं को ब्रिटिश संसद और जनता की न्यायप्रियता पर पूर्ण विश्वास था. उन्हें ऐसा लगता था कि यदि ब्रिटेन में अंग्रेजों तक भारत के निवासियों की दुर्दशा का समाचार पहुँच जाए तो सब कुछ ठीक हो जायेगा.

कांग्रेस का नरमपंथी चरण

1905 तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर लोगों का वर्चस्व रहा जिनको प्रायः नरमपंथी राष्ट्रवादी कहा जाता है. "कानून की सीमा में रहकर संवैधानिक आन्दोलन तथा धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग राजनीतिक प्रगति" इन शब्दों में नरमपंथियों की राजनीतिक पद्धति को **संक्षेप में रखा जा सकता है.**

उनके राजनीतिक कार्य की दो दिशाएँ थीं –

पहला, भारत की जनता में राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना जगाने हेतु शक्तिशाली जनमत तैयार करना तथा जनता को राजनीतिक प्रश्नों शिक्षित तथा एकताबद्ध रखना. राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव और प्रार्थना पत्र भी मूल रूप इसी लक्ष्य द्वारा निर्देशित थे.

दूसरा, वे आरम्भिक राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करना चाहते थे ताकि जिस प्रकार के सुधार राष्ट्रवादियों ने सुझाए थे उनको लागू किया जा सके. नरम राष्ट्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिश जनता और संसद भारत के साथ न्याय करने के लिए इच्छुक तो थी, पर उन्हें यहाँ की वास्तविक स्थिति की जानकारी नहीं थी. इसलिए वे भारतीय जनमत को शिक्षित करने के साथ-साथ नरमपंथी राष्ट्रवादी ब्रिटिश जनमत को भी शिक्षित करने के प्रयास कर रहे थे. इस उद्देश्य उन्होंने ब्रिटेन में जमकर प्रचार कार्य किया. भारतीय पक्ष को समक्ष रखने के लिए प्रमुख भारतीयों के दल को ब्रिटेन भेजा गया. इसी उद्देश्य से 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति बनाई गई. अपने प्रचार कार्य हेतु इस समिति ने "**इंडिया**" नामक पत्रिका का भी प्रकाशन किया.

दादा भाई नौरोजी ने अपने जीवन और आय का विशाल हिस्सा इंग्लैंड में रहकर वहाँ की जनता में भारत की माँग का प्रचार करने में झोंक दिया. यह भी निर्णय लिया गया कि इंडियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन 1892 में लन्दन में किया जाए पर 1891 में अंग्रेजी चुनाव होने की घोषणा की गई, अतएव मामला स्थगित कर दिया गया और फिर कभी नहीं उठाया गया.

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवादियों की भूमिका

नरमपंथी यह भली-भाँति समझते थे कि भारत अभी हाल ही में एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में पहुँचा है. दूसरे शब्दों में भारत अभी एक नवोदित राष्ट्र था. भारत के राष्ट्रीय स्वास्थ्य को बहुत सावधानी से निखारने की जरूरत थी. आरम्भिक राष्ट्रवादियों ने अपनी राजनीतिक और आर्थिक मांगों का निर्धारण इस बात को दृष्टि में रखकर किया कि भारतीय जनता को एक साझे आर्थिक राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठित करना है.

राष्ट्रवादियों द्वारा ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों की आलोचना

साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना आरम्भिक राष्ट्रवादियों का संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य था. उन्होंने भारत के आर्थिक दोहन की तार्किक रूप से आलोचना करते हुए इसे "**आर्थिक साम्राज्यवाद**" की संज्ञा दी. दादाभाई नौरोजी ने सर्वप्रथम "पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' नामक पुस्तक के जरिये क्रमागत व्याख्या करते हुए "धन के निष्कासन का सिद्धांत" प्रस्तुत किया. कालांतर में महादेव गोविन्द रानाडे के साथ रमेश चन्द्र दत्त ने भी अपनी पुस्तक "द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया" में इसकी व्याख्या की. दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन को ऐसे अनवरत और प्रतिदिन होने वाले विदेशी आक्रमण के रूप में देखा जो शनैः-शनैः भारत का विनाश करता जा रहा था.

राष्ट्रवादियों की शिकायत थी कि भारत की दौलत इंग्लैंड ले जाई जा रही है और उन्होंने इस दोहन को रोकने की माँग की. किसानों पर करों का बोझ कम करने के लिए उन्होंने जमीन की मालगुजारी घटाने के सवाल पर निरंतर आन्दोलन चलाया. इनमें से कुछ ने उस अर्द्ध स्वामी कृषि सम्बन्धों की भी आलोचना की जिनको अंग्रेज़ बनाए रखना चाहते थे. उन्होंने भारी करों को भारत की गरीबी का एक कारण बताया और नमक कर ख़त्म करने तथा जमीन की मालगुजारी घटाने की माँग की.

उनकी अन्य मांगे कुछ इस प्रकार थीं –

1. भारत से किये जाने वाले आर्थिक दोहन को समाप्त करना.
2. कृषकों पर कर के बोझ कम करने के लिए भू-राजस्व में कमी करना.
3. अत्यधिक सैन्य व्यय एवं भारतीय सेना द्वारा विदेशों में ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए जाने वाले अभियानों का भार भारतीय राजस्व पर भारित किये जाने का विरोध करना.
4. रेलवे, बागानों तथा उद्योगों में स्वहित के लिए किये जाने वाले विदेशी निवेश का विरोध करना.

संवैधानिक सुधारों की माँग

राष्ट्रवादियों का प्रारम्भ से ही यह विश्वास था कि भारत में अंततः लोकतांत्रिक स्वशासन लागू होना चाहिए. लेकिन उन्होंने इस लक्ष्य को तुरंत प्राप्त किये जाने की माँग नहीं की. लेकिन उन्होंने इस लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त किये जाने की माँग नहीं की. उनकी तात्कालिक मांगे अत्यंत साधारण थी. वे एक-एक कदम उठाकर स्वाधीनता की मंजिल तक पहुंचना चाहते थे. वे इस बात से सावधान भी थे कि कहीं सरकार उनकी गतिविधियों को कुचल न दे. उन्होंने 1885 से 1892 तक विधाई परिषदों के प्रसार और सुधार की ही माँगें उठाई.

उन्हीं के आन्दोलन के दबाव से सरकार को 1892 का **भारतीय परिषद् कानून** पास करना पड़ा. इस कानून द्वारा शाही विधायी परिषद् तथा प्रांतीय परिषदों में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई. इनमें से कुछ सदस्यों को भारतीय अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुन सकते थे, परन्तु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही रहता. राष्ट्रवादी 1892 के सुधार से पूरी तरह असंतुष थे तथा उन्होंने उसे मजाक बताया.

उन्होंने परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने के लिए तथा उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने की माँग उठाई. विशेष रूप से उन्होंने सार्वजनिक धन पर भारतीयों के नियंत्रण की माँग की तथा वह नाम दिया जो इससे पहले अमेरिकी जनता ने अपने स्वाधीनता युद्ध के दौरान लगाया था.

बीसवीं सदी के आरम्भ तक राष्ट्रवादी नेता और आगे बढ़ चुके थे और उन्होंने ऑस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज पर ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहकर ही स्वशासन (स्वराज्य) का दावा पेश किया. कांग्रेस के मंच से इस माँग को 1905 में गोखले और 1906 में दादा भाई नौरोजी ने उठाया.

प्रशासकीय सुधारों की माँग

राष्ट्रवादियों द्वारा प्रारम्भिक काल से ही प्रशासन के अधीन सेवाओं के भारतीयकरण की माँग की गई क्योंकि अंग्रेज़ अधिकारी प्राप्त वेतन का एक बड़ा हिस्सा अपने गृह-देश इंग्लैंड भेज देते थे. विदित हो कि राष्ट्रवादियों ने इस प्रक्रिया को भारत से धन की निकासी के रूप में इंगित किया. दूसरी बात भारत में ही प्रशासनिक पदों पर भारतीयों की ही अनुपस्थिति को अनैतिक बताया गया.

आर्थिक दृष्टि से उच्चतर पदों यूरोपीय एकाधिकार दो कारणों से हानिकारक था –

1. यूरोपीय लोगों को बहुत ऊँचे वेतन दिए जाते थे और इससे भारत का प्रशासन बहुत खर्चीला हो जाता था, जबकि समान योग्यता वाले भारतीयों को कम वेतन पर रखा जा सकता था.
2. यूरोपीय लोग अपने वेतन का एक बड़ा भाग भारत के बाहर भेज देते थे और उनको पेंशन भी इंग्लैंड में दिया जाता था. इससे भारत की सम्पत्ति का दोहन और बढ़ता था.
3. राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों का मत था कि इन सेवाओं का भारतीयकरण करने प्रशासन भारत की आवश्यकताओं के प्रति सजग होता. उनका मानना था कि भारतीय प्रशासकों को भारतीय समस्याओं का अधिक ज्ञान होने के कारण वे बेहतर प्रशासक हो सकते थे. नैतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों का मानना था कि भारत प्रशासन भारतवासियों के द्वारा ही चलाये जाए. अन्यथा उनकी प्रशासकीय और सैनिक योग्यताएं उपयोग के बिना धीरे-धीरे नष्ट हो जाएँगी और वे अपने ही देश में मात्र मजदूर बनकर रह जाएँगे.

न्यायिक सुधार की माँग

राष्ट्रवादियों की माँग थी कि न्यायिक अधिकारों कार्यकारी अधिकारों पृथक किया जाए जिससे पुलिस और नौकरशाही के मनमाने अत्याचारों से जनता को कुछ सुरक्षा मिले. उन्होंने जनता के साथ पुलिस और दूसरे सरकारी अमलों के दमनकारी और निरंकुश व्यवहार के खिलाफ आन्दोलन किये. उन्होंने कानूनी प्रक्रिया में लगने वाले विलम्ब तथा न्याय व्यवस्था के ऊँचे खर्च की आलोचना की.

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा

एडमंड बर्क ने प्रेस को लोकतंत्र का **चौथा स्तम्भ** कहा है. प्रेस की स्वतंत्रता एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं जोकि किसी भी मानव समाज के स्वतंत्र विकास के लिए बहुत जरुरी है. नागरिक अधिकारों से सम्बंधित अन्य प्रमुख अवयव – संगठन बनाने की स्वतंत्रता, एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करने

की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता आदि हैं. 1897 में बाल गंगाधर तिलक की गिरफ्तारी पर उदारवादियों द्वारा भी इसका विरोध किया गया. कालांतर में लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी और अन्य राष्ट्रवादी नेतृत्व द्वारा नागरिक अधिकारों के विषय को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का अभिन्न अंग घोषित कर राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन चलाया गया.

सरकार की विदेशी नीति की आलोचना

राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत के पड़ोसी देशों के सरकार की आक्रामक विदेशी नीति का विरोध किया. उन्होंने बर्मा के अधिग्रहण, अफगानिस्तान पर हमले तथा पश्चिमोत्तर भारत की आदिवासी जनता के दमन का भी विरोध किया.

कल्याणकारी उपायों की माँग

राष्ट्रवादियों ने सरकार गुहार लगाई कि वह राज्य की तरफ से कल्याण गतिविधियाँ चलाये. उन्होंने जनता में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार बहुत अधिक जोर दिया. उन्होंने तकनीकी और उच्च शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ाने की भी माँग उठाई. सूदखोरों के चंगुल से किसानों को बचाने के लिए उन्होंने कृषि बैंकों की स्थापना की माँग की. उन्होंने चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने की माँग की. उन्होंने पुलिस को ईमानदार, कुशल और जनप्रिय बनाने हेतु पुलिस व्यवस्था में सुधार की माँगें उठाई.

निष्कर्ष

वस्तुतः समकालीन कांग्रेसी विश्वास करते थे कि अंग्रेज़ न्यायप्रिय लोग हैं और वे भारत से न्याय ही करेंगे. उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के हित में है, अतएव वे लोग अंग्रेजी सरकार को शत्रु नहीं अपितु अपना मित्र समझते थे. उन्हें आशा थी कि बाद में अंग्रेज़ उन्हें अपनी परम्पराओं के अनुसार स्वशासन करने में योग्य बना देंगे. वे समझते थे कि भारत की उन्नति में बाधा अंग्रेजी उपनिवेशवादी नीति नहीं अपितु भारतीयों का सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन है या प्रतिक्रियावादी नौकरशाही.

1886 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए अंग्रेजी राज्य के लोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया तो 1898 में अध्यक्ष पद से आनंद मोहन बोस ने कहा कि, “शिक्षित भारतीय इंग्लैंड का शत्रु नहीं, अपितु इसके सम्मुख बड़े कार्य में उसका प्राकृतिक और आवश्यक सहयोगी है.” लेकिन बाद में जब उन्होंने ब्रिटिश शासन की बुराइयों तथा सुधार की राष्ट्रवादी माँगों को स्वीकार करने में सरकार की असफलता को समझा तो उनमें से अनेक ने ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी की कसम खाना बंद करके भारत के लिए स्वशासन की माँग करना शुरू करना दिया. इसके अतिरिक्त उनमें से अनेक इसलिए नरमपंथी के विरोधी थे क्योंकि वे समझते थे कि विदेशी शासकों को खुलकर चुनौती देने का समय अभी नहीं आया है.